E-ISSN No : 2581-6195 | Volume : 9 | Special Issue | Aug 2026

''भारतेंदु जी के नाटकों में पाखंड–खंडन का सजीव चित्रण''

गौरव गौड़

ABSTRACT

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र ने नाटक को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर सामाजिक जागरण और वैचारिक परिवर्तन का प्रभावशाली माध्यम बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीय समाज में धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों, सामाजिक विसंगतियों, नैतिक पतन और औपनिवेशिक शोषण का समय था। भारतेंदु ने अपने नाटकों में इन विकृतियों को प्रत्यक्ष अथवा प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त किया। विशेषतः 'अंधेर नगरी', 'भारत–दुर्दशा', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चंद्र', 'नीलदेवी' आदि रचनाओं में पाखंड, आडंबर और कथनी–करनी के अंतर पर तीखा प्रहार दिखाई देता है।

भारतेंदु के यहाँ पाखंड–खंडन केवल धार्मिक पाखंड तक सीमित नहीं है, उसमें राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और प्रशासनिक पाखंड भी सम्मिलित हैं। उनका व्यंग्य व्यक्ति–विशेष की निंदा से आगे बढ़कर उन सामाजिक संस्थाओं और मानसिक प्रवृत्तियों की आलोचना करता है जो शोषण और अज्ञान को बनाए रखती हैं। इस दृष्टि से भारतेंदु का नाट्य–साहित्य हिंदी नवजागरण की आलोचनात्मक चेतना का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। आधुनिक शोध भी भारतेंदु के नाटकों में अंधविश्वास, रूढ़िवाद, धार्मिक पाखंड, नैतिक पतन आदि के विरुद्ध सुधारवादी चेतना को रेखांकित करता है।

बीजाक्षर– बीजकुंजी

बीज शब्द– भारतेंदु हरिश्चंद्र, पाखंड–खंडन, व्यंग्य, सामाजिक चेतना, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, हिंदी नवजागरण, नाट्य–साहित्य

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
फोनिक्स विश्वविद्यालय,
रूड़की, उत्तराखण्ड

How to Cite:
गौरव गौड़ (2026), ''भारतेंदु जी के नाटकों में पाखंड–खंडन का सजीव चित्रण'', International Educational Journal of Science & Engineering (IEJSE),Vol: 9, Special Issue, Aug 2026 106-110

प्रस्तावना–

भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी साहित्य के इतिहास में ऐसे साहित्यकार हैं जिनके व्यक्तित्व में साहित्यकार, पत्रकार, समाजचिंतक और नाटककारकृइन सभी रूपों का समन्वय दिखाई देता है। हिंदी क्षेत्र में आधुनिक नाट्य–चेतना के विकास में उनका योगदान विशेष महत्त्व रखता है। उनके नाटकों में तत्कालीन समाज का यथार्थ, उसकी विडंबनाएँ तथा परिवर्तन की आकांक्षा एक साथ दिखाई देती हैं। आधुनिक रंगमंच की स्थापना के उनके प्रयासों और उनके प्रमुख नाटकों में तत्कालीन सामाजिक – राजनीतिक प्रवृत्तियों के चित्रण पर आधुनिक अध्ययनों में भी विशेष बल दिया गया है।

भारतेंदु जिस समय सक्रिय थे, उस समय भारतीय समाज परंपरा और आधुनिकता के संक्रमण से गुजर रहा था। एक ओर अंग्रेजी शासन, नवीन शिक्षा, मुद्रण और पत्रकारिता से नई चेतना का विकास हो रहा था, दूसरी ओर समाज में अनेक रूढ़ियाँ और अंधविश्वास दृढ़ता से विद्यमान थे। हिंदी प्रदेश के नवजागरण के संदर्भ में सामाजिक सुधार और राजनीतिक जागरण दोनों समानांतर प्रक्रियाएँ थीं।

भारतेंदु के नाटकों में पाखंड के प्रमुख रूप इस प्रकार दिखाई देते है जिनका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया जा रहा है–

धार्मिक पाखंड
सामाजिक पाखंड
नैतिक पाखंड
राजनीतिक पाखंड
प्रशासनिक पाखंड

सर्व प्रथम यहॉ पर भारतेन्दु जी द्वारा रचित अत्यन्त लोकग्राही व व्यंग्यात्मक नाटक ''वैदिकी हिंसा

Research Paper

Copyright© 2026, IEJSE. This open-access article is published under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License which permits Share (copy and redistribute the material in any medium or format) and Adapt (remix, transform, and build upon the material) under the Attribution-NonCommercial terms.

हिंसा न भवति'' जो कि (सं. 1930 वि.) में लिखा गया के माध्यम से में अपने षोध पत्र का श्रीगणेष प्रारम्भ कर रहा हूँ–

भारतेन्दुजी ने पाखण्ड–विडम्बन में अवैदिकों का भण्डाफोड़ किया था, अतएव यह आवश्यक था कि पाखण्डी वैदिक धर्मानुयायियों की भी खबर ली जाए और जनता को उनसे सावधान किया जाए। प्रहसन के रूप में मांसाहारी पुरोहित का उत्साह से यज्ञ करना, एवं शैव–वैष्णवों का मांस खाने को लालायित रहना दिखाकर पाखण्डियों की खिल्ली उड़ाई गई है हिंसामय यज्ञ करने वाला राजा जब यमराज के सम्मुख उपस्थित होता है तो चित्रगुप्त उसका लेखा उपस्थित करता है। वह स्थल अत्यन्त आकर्षक है। जो इस प्रकार है ''भारतेन्दुजी के नाटकों में 'सत्यहरिश्चन्द्र' ने सबसे अधिक ख्याति पाई। उस युग में इसका अभिनय नगरों में तो होता ही था, ग्राम्यजीवन भी इसके अभिनय द्वारा मुखरित हो उठा था। सबसे अधिक प्रेक्षक भी कदाचित् इसी नाटक ने देखे होंगे। इस नाटक ने मानव–हृदय की करुण रागिनी को तड़पाने में सबसे अधिक सफलता पाई। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतेन्दुजी की यह सबसे प्रौढ़ और उत्तम कृति है। जितनी ही इसकी ख्याति फैली है, उतनी ही इसकी मौलिकता के प्रति आशंकाएं भी उठी हैं। डॉ. सोमनाथ गुप्त ने चण्डकौशिक और हरिश्चन्द्र नाटकों की विस्तृत तुलना करते हुए यह परिणाम निकाला है कि "अपनी सम्पूर्ण स्थिति में सत्यहरिश्चन्द्र न तो एकदम मौलिक ही है और न बिल्कुल अनुवाद ही। यदि हम उसे रूपान्तरित मान लें तो किसी प्रकार के विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। इसमें लेखक की मौलिकता अधिक है और अनुवाद की मात्रा कम''।[1]

इस प्रहसन नाटक के द्वारा समाज को दूषित करनेवाले पाखण्डियों की खूब खबर ली गई है। ऐसा सहेतुक प्रहसन लिखना भारतेन्दुजी की विलक्षणता थी।

''सत्यहरिश्चन्द्र'' इस नाटक का समाज में खूब आदर प्राप्त हुआ यह नाटक समाज में व्याप्त कुरीतियों पर कुठाराघात करने के लिए मानो पर्याप्त है जिसकी रचना भारतेन्दु जी ने (सं. 1932 वि.) में पूर्ण की

इस नाटक के सम्बन्ध में डाक्टर सोमनाथ ने उपर्युक्त मत के समर्थन में जिन स्थलों का उद्धरण ''चण्ड–कौशिक ''और ''सत्यहरिश्चन्द्र'' से देकर सत्यहरिश्चन्द्र को चण्डकौशिक का उस सीमा तक अनुवाद माना है, वे ही स्थल भारतेन्दु की मौलिकता के प्रमाण कहे जा सकते हैं। सत्य–पालन के लिए राजा हरिश्चन्द्र का विक जाना आर्य क्षेमेश्वर की कल्पना नहीं, यह तो पुराण–प्रसिद्ध वार्ता है। किन्तु उस वार्ता को दोनों नाट्यकार जिस ढंग से उपस्थित करते हैं, उसमें मौलिकता की परख होती है। उद्धरणों की तुलना कीजिए –

चण्डकौशिक – आत्मानमेव विक्रीय सत्यं रक्षामि शाश्वतम् ।
यस्मिन्नरक्षिते नूनं लोकद्वयमरक्षितम् ।।

सत्यहरिश्चन्द्र– बेचि देह सारा सुअन, होइ दास हूँ मंद।
रखिहै निज वच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद ।।

दोनों की तुलना कीजिए, किसमें विदग्धता तथा मार्मिकता अधिक है ? इन दोनों में आकाश–पाताल का अन्तर है। कैसे एक को दूसरे का अनुवाद कहा जाए ?

मौलिकता का प्रश्न चण्डकौशिक के कारण उतना नहीं उठता, जितना बंगला नाटक की प्राचीन प्रति की उपलब्धि से खड़ा होता है। पं. रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, ''सत्यहरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बंगला नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है''।[2]

भारतेन्दु जी पाखंड–खंडन ''विषस्य विषमौषधम्'' (सं. 1933) में निम्नलिखितरूप में प्राप्त होता है–

यह प्रसिद्ध है कि संवत् 1932 में जब महाराज गायकवाड़ अपने कुप्रबन्ध के कारण राजच्युत कर दिए गए तो भारतेन्दुजी ने प्रसन्नता प्रकट करने के लिए यह भाण लिखा। इससे एक उद्देश्य तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दी में भाण का उदाहरण आ जाए ।

भावप्रकाश के अनुसार भाण के नौ भेद होते हैं। उन भेदों में से भारतेन्दुजी–रचित भाण चित्र जाति का है। इसमें नाना भाषाओं का संयोग होता है। इस भाण में हिन्दी–संस्कृत प्रधान रूप से प्रयुक्त हुई हैं, इनके अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु बाबू ने इस नाटक में मुहावरों की झड़ी लगा दी है। कदा–चित् वे बताना चाहते थे कि नाटकों में 'भाण' उस जाति का है, जिसमें बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग नाटक को रोचक बना देता है। इसमें हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं के मुहावरों की छटा विद्यमान है। एक–एक पृष्ठ पर कई–कई मुहावरे हैं। जैसे अपनी नाक ठहरी जिधर फेर दिया, उनकी बकरी जिस घाट पानी पिलाएं, बिजली को घन का पच्चड़, पचड़ा गाना, परचल गोह करोंदा खाय, जान, निछावर करना, यस्यास्ति भाग्यं स नरः कुलीनः, हसब ठठाइ फुलाउव गालू, पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव.... इत्यादि ।

इन कहावतों को विस्तार से देने का यह प्रयोजन है कि हिन्दुस्तानी के उन भक्तों को उत्तर मिल जाए जो मुहावरेदार भाषा के पक्ष में हैं और भारतेन्दुजी की भाषा पर आक्षेप लगाते हैं। कदाचित् अपने गुरु राजा शिवप्रसादजी की प्रिय भाषा में

यह भाण लिखने का प्रयास भारतेन्दुजी ने किया। इससे उनका यह उद्देश्य प्रकट होता है कि जहां विषय गम्भीर न हो वहां यह हलकी–फुलकी भाषा काम दे सकती है, अन्यत्र नहीं।

इस नाटक के कारण भारतेन्दुजी की राष्ट्रीय भावना पर दोषारोपण किया जाता है। कुछ समालोचकों का आक्षेप है कि विदेशी सरकार द्वारा एक देशी राजा के राजच्युत होने पर हर्ष मनाना कहां की राष्ट्रीयता है।[3] इसका उत्तर तो भारतेन्दुजी ने स्वतः नाटक के नामकरण में ही दे दिया है। वे तो कहते हैं कि ''विष की औषध विष है।'' अर्थात् देशी राजाओं के अत्याचार को मिटाने का जो उपचार है, वह भी तो विष ही है। उसे भारतेन्दजी अमत कब मानते हैं? किन्तु वे ऐसे दूराग्रही नहीं, जो स्वदेशाभिमान के जोष में अपनी दुर्बलताओं पर भी आवरण डाल दें। हॉ, अपने देष की साधारण दुर्बलताओं को छिपाना अनुचित तो नहीं है, किन्तु जहॉ वे हद से बढ़ जाएं, वहॉ उनका उद्घाटन होना श्रेयस्कर ही होता है।[4]

भरतकाव्य में भारतेन्दु जी की चेतावनी न केवल प्रजा, प्रत्युत राजन्यवर्ग के भी है।[5]

भारत–दुर्दशा (सं. 1937) इस नाटक का षीर्शक के अनुरूप ही नाटककार ने वास्तविक रूप में भारत के मर्मान्तक एवं नाटकान्त में दुखान्तक चित्र प्रस्तुत किये हैं–

''भारत–दुर्दशा'' और ''अंधेर नगरी'' इन दोनों नाटकों में देश की दयनीय दशा का उद्घाटन करके जन–जागरण का उद्देश्य झलकता है। इन दोनों में भारतेन्दु जी पुञ्जी–भूत अन्तर्वेदना मानो अगणित रूपों में रोदन करने का अवसर पा जाती है। सच तो यह है कि इन अश्रुरेखाओं की भाषा में भारतेन्दुजी की क्रान्तिकारी आत्मा घोर परिवर्तन सन्देश सुनाती दिखाई पड़ती है। विलक्षणता तो यह है कि यद्यपि दोनों में छः अंक हैं तथापि एक ही संदेश उपयुक्त दोनों नाटकों में दो विभिन्न शैलियों से जनता के सामने रखा गया है। 'भारत–दुर्दशा' में मध्यवर्ग, कलाविद् तथा पण्डित प्रेक्षकों के अनुकूल विचार शैली का उपयोग किया गया है, और अंधेरनगरी में ग्रामीण नर–नारियों के योग्य सरल ढंग से किसी बात को समझाने के लिए सुगम शैली प्रयुक्त की गई है। एक शैली भावात्मक है, दूसरी प्रभावात्मक। एक में डिसलायल्टी, आशा, निर्लज्जता, सत्यानाश, –भारत–भाग्य आदि मानव–रूप में आते हैं, दूसरे में चनेवाला और चूरनवाला चना–चूरन लेकर आते हैं।

उदाहरण के लिए देखिए ''भारत दुर्दशा'' में भारत–भाग्य को। वह खिन्नमना होकर चेतावनी दे रहा है–

सोई वंश रुधिर वही, सोई मन् विश्वास ।
वही वासना चित वही, आसय वही विलास ।।
कोटि–कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि–कोटि अति सूर।
कोटि–कोटि बुध मधुर कवि मिले यहां की धूर ।।
सोई भारत की आज यह भई दुर्दशा हाय ।।[6]

इसकी शब्दावली और इसके विचार पठित–समाज के लिए भावात्मक दिखाए गए हैं। किन्तु दूसरे नाटक अंधेरनगरी में गोवर्धनदास गाता है–

साँच कहें तो पनहीं खावें, झूठे बहु विधि पदवी पावें ।
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा, मानहु राजा रहत विदेसा ।।[7]

अंधेर नगरी के विषय में विस्तृत विवेचना अलग की जाएगी। यहां भारत–दुर्दशा के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए ।

इस नाटक में भारत–भाग्य केवल छठे अंक में दिखाई पड़ता है। भारत की दीन दशा देखकर वह मानो परिहास कर रहा है। अन्त में भारत के जीवन की कोई आशा न देखकर भारत–भाग्य अपनी छाती में कटार भोंक लेता है और अन्तिम पटाक्षेप हो जाता है।

इस सन्दर्भ में कुछ समालोचकों ने भारतेन्दुजी का सबसे बड़ा दोष इस दुःखान्त नाटक की समालोचना में यह दिखाया है कि ''उन्होंने आशा की कहीं झलक नहीं दिखाई और भार–तीयों को कोई रक्षा का पथ नहीं बताया और भारत–भाग्य का अन्त करके सदा के लिए भारत का उन्नति–पथ बंद कर दिया। एक प्रसिद्ध समालोचक का तो कहना है कि ष्भारत–दुर्दशा में भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का अच्छा चित्र अंकित किया गया है, पर यह दुःखान्त कर दिया गया है। इससे अन्त में नैराश्य का भाव उत्पन्न होता है, पर होना चाहिए भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव होना चाहिए था।[8]

अंधेरनगरी (सं. 1938 वि.) इस नाटक में उन्होंने शिक्षित, अर्ध–शिक्षित, आभिजात्य तथा मध्यम वर्ग के प्रेक्षकों को रखा था–

पूर्वलिखित नाटकों में भारतेन्दुजी ने अपनी दृष्टि के सम्मुख उन शिक्षित, अर्ध–शिक्षित, आभिजात्य तथा मध्यम वर्ग के प्रेक्षकों को रखा था, जिनमें कला–प्रेम के साथ–साथ परख की भी कुछ सामर्थ्य होती है, किन्तु जनता का प्रतिनिधि (भारतेन्दु) लक्ष–लक्ष उन अशिक्षित ग्रामीणों को कैसे विस्मृत कर सकता है, जो शताब्दियों से पठन–पाठन की सुविधा, कलामय वातावरण तथा विनोद के उत्तम साधनों से वंचित लें।

भारतेन्दुजी ने ग्राम्यजीवन की त्रुटियों को भी समझा था। ''उन्होंने देखा था कि विवाह आदि उत्सवों के अवसरों पर भांड़ और स्वांग मंडलियां किन अवांछनीय अश्लील खेलों से ग्रामीणों को हंसाकर रुपया ऐंठती हैं। इन मंडलियों में इसी बात की होड़

लगती है कि किस मण्डली का घोड़ा अश्लीलता में सबसे आगे छूटता है।''[9] जो मण्डली जितना अधिक अश्लील, भोंडा, भद्दा, वासनोत्तेजक खेल दिखाती है, वह अपने को उतनी ही प्रसिद्ध मानती है। उन मण्डलियों का एक ही लक्ष्य होता है, किसी प्रकार निम्नतम स्तर के लोगों को रुचिकर प्रतीत होनेवाला आख्यान अश्लीलतम शब्दों से अधिक भोंडे और भद्दे रूप में प्रदर्शित करना ।

जैसा पूर्व कहा जा चुका है कि भारतेन्दुजी किसी भी विनोद–परम्परा का बहिष्कार तथा संहार नहीं चाहते थे, प्रत्युत उसके परिष्कार तथा सुधार के अभिलाषी थे। यह नाटक कदाचित उन्हीं अनपढ़ लोगों को दृष्टि में रख कर लिखा गया है, जिनकी शब्दावली अति परिमित होती है, और जिन्हें सीधे–सादे आख्यान के द्वारा प्रहसन देखने का अभ्यास है। भारतेन्दुजी जनता की नाड़ी पहचानते थे। उन्होंने प्रहसन का ऐसा आख्यान निकाला जो ग्रामीण जनता को रुचिकर भी हो और लोगों की रुचि को परि–मार्जित भी कर सके। शब्दावली उन्हीं के घर की हो, पर सुरुचिपूर्ण हो। घटनाएं उन्हीं के मध्य घटित होने वाली हों, पर कला से वंचित न हों। वही चूरनवाला चूरन बेचता है और चनेवाला चने। उन्हीं के घरों में प्रचलित शब्दावली, उन्हीं की शैली, किन्तु एक विज्ञ कलाकार उन सभी अवयवों का समीकरण जिस कौशल से करता है, वह नाटक में प्राण–प्रतिष्ठा कर देता है। उन्होंने गानों में से गाली–गलौच के अश्लील शब्दों को हटाकर उन्हीं के घरों में बोले जाने वाले कृष्णमुरारी, श्यामसलोना को रख दिया है।

चूरन अमल वेद का भारी। जिसको खाते कृष्णमुरारी ।
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम–सलोना ।।[10]

चूरनवाला चूरन के बहाने ऐसी अनूठी बातें सीधे–सादे शब्दों में कह जाता है कि सरकार की काली करतूतों का खुल्लमखुल्ला भण्डाफोड़ हो जाता है और कानून की पकड़ में भी नहीं आता। देखिए

चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता ।
चूरन पुलिसवाले खाते । सब कानून हजम कर जाते ।
चूरन हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते ।।[11]

हजम कर जाने में कितनी अभिव्यंजना है ऐसे स्थलों पर भी भारतेन्दु बाबू की विलक्षण प्रतिभा का परिचय पाकर विस्मय होता है। पराधीनता की वेदना प्रकट करने का जहां भी अवसर मिला, वे चूके नहीं। ग्रामीण जनता के मध्य इन छोटे–छोटे शब्दों और पदों में हास्य का पुट देकर राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करना उन्हीं का काम था। आज भी गांवों में चना और चूरन इन्हीं गानों के साथ बेचे जाते हैं। सैकड़ों मनुष्य उनके चतुर्दिक खड़े होकर इन गानों को सुनते और आनन्द उठाते हैं।

प्रायः प्रत्येक जाति के प्रत्येक वर्ग के दोषों को इस प्रहसन में दिखाया गया है।

उदाहरण के लिए देखिए –

''ब्राह्मण– टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाए और धोबी को ब्रह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान ।''[12]

इस नाटक में ग्रामीण जनता ने आद्योपान्त जितना हास्य–विनोद पाया, उतना ही राष्ट्रीयता का पाठ भी अनजाने सीख लिया। अन्यायी राजा को अन्त में टिकटी पर चढ़ाकर भारतेन्दुजी भविष्य से भारतोद्धार की ओर संकेत भी करते हैं। अकेले इस नाटक ने जितना उपकार ग्रामीण जनता का किया उतना कदाचित् ही अद्यावधि किसी अन्य नाटक ने किया हों। ग्रामीण शब्दों की छटा देखिए टिकस, बोदा, चौपट्ट, नैनुवा, गया, लकलक, बुम्बक–बुम्बक, भिच्छा।

भारतेन्दुजी ने स्वांग–मंडलियों और भाड़ों को जो मार्ग दिखाया, उस पर चलने से ग्रामीण अनपढ़ जनता की रुचि का परिष्कार भी होता और उनको हास्य–विनोद में भी और अधिक रस मिलता। कुछ काल तक भारतेन्दु के पथ का अनुसरण हुआ। किन्तु आगे चलकर पठित–समाज में कोई ऐसा प्रतिभाशाली नाट्यकार न हुआ जो इस प्रकार के अन्य नाटकों द्वारा प्रहसन में विविध विषयों का समावेश करके जनता का मंगल करता। आज के नाट्यकार यदि इस ओर ध्यान दें तो हिन्दी साहित्य के एक और अंग को श्री–वृद्धि हो ।

निष्कर्ष–

भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों में पाखंड–खंडन केवल धार्मिक आडंबरों की आलोचना तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनके व्यापक सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय चिंतन का महत्वपूर्ण पक्ष है। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों, कर्मकांडों, ढोंग, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता तथा नैतिक पतन को तीक्ष्ण व्यंग्य के माध्यम से उजागर किया। उनका उद्देश्य धर्म का विरोध करना नहीं, बल्कि धर्म के नाम पर होने वाले अधर्म और शोषण का प्रतिरोध करना था।

भारतेंदु के यहाँ पाखंड–खंडन का स्वर विशेष रूप से इसलिए प्रभावशाली बन जाता है कि वे हास्य और व्यंग्य को सामाजिक सुधार का माध्यम बनाते हैं। अंधेर नगरी में शासन–व्यवस्था और न्याय–प्रणाली की विसंगतियों के माध्यम से सामाजिक तथा राजनीतिक पाखंड को सामने लाया गया है, जबकि भारत–दुर्दशा में राष्ट्रीय जीवन की दयनीय स्थिति, सामाजिक जड़ता और आत्मविस्मृति पर तीखा प्रहार मिलता है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में धार्मिक तर्कों की आड़ में स्वार्थ और हिंसा को उचित

ठहराने की प्रवृत्ति का खंडन किया गया है। इस प्रकार भारतेंदु के नाटकों में पाखंड केवल व्यक्तिगत चरित्र–दोष नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था को खोखला करने वाली मानसिकता के रूप में प्रस्तुत होता है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों में पाखंड–खंडन उनके युगबोध, सामाजिक चेतना और नवजागरणवादी दृष्टि का सशक्त अभिव्यक्ति–पक्ष है। उन्होंने नाटक को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर सामाजिक विसंगतियों के उद्घाटन और जनचेतना के निर्माण का माध्यम बनाया। उनके पाखंड–विरोधी स्वर ने हिंदी नाटक को सामाजिक सरोकार प्रदान किया और आधुनिक हिंदी साहित्य में तर्कशीलता, सुधारवाद तथा जागरण की परंपरा को सुदृढ़ किया। यही कारण है कि भारतेंदु के नाटकों में पाखंड–खंडन आज भी प्रासंगिक दिखाई देता है, क्योंकि बाह्य आडंबर और स्वार्थ के विरुद्ध विवेक, सत्य और मानवीय मूल्यों की आवश्यकता प्रत्येक युग में बनी रहती है।

संदर्भ

1. ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति(सं. 1930 वि.)''
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं. रामचन्द्र शुक्ल, काशी ना. प्र. सभा, 2002 वि. १., पृ. सं.–400
3. भारतेन्दु नाटकावली, प्रस्तावना, बाबू ''यामसुन्दरदास।
4. बबू गुलााबराय, साहित्य–सन्देष, पृ. 219, भारतेन्दु अंक, अक्टूबर –नवम्गर 1950
5. भारतेन्दु नाटकावली, विशस्य विशमौशधम, पृ. 592–93।
6. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ. 495
7. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ. 670
8. भारतेन्दु नाटकावली, बाबू श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस, 1927 ई., पृ. 66
9. साहित्य–संदेश (भारतेन्दु अंक), वर्ष 12, अंक 4–5, पृ. 319–20
10. भारतेन्दु नाटकावली, पृ. 690
11. वही पृ. 661
12. वही पृ. 689